इकाई 24 धर्म, भावना, वेद की अपौरुषेयता एवं विधि

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

- अर्थसंग्रह में प्रतिपादित धर्म के स्वरूप को जान सकेंगे।
- अर्थसंग्रह के अनुसार भावना के स्वरूप तथा उपयोगिता से परिचित हो सकेंगे।
- मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद की अपौरुषेयता को भलीभाँति जान सकेंगे; तथा
- वेद के प्रथम अंश विधि के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में षड्विध आस्तिक शृंखलाओं में कर्ममीमांसा नाम से विश्वविख्यात दर्शन मीमांसा दर्शन है। यह दर्शन अन्य दर्शनों के समान सृष्टि, ईश्वर, जीवादि में ही सिमट कर नहीं रह गया अपितु अपने मौलिक विचारों के साथ भारतीय दर्शन में एक विशेष स्थान को प्राप्त करता है। दृशिर् प्रेक्षणे धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर भावार्थ में 'दृश्यते ज्ञायते यत् तद्दर्शनम्' व्युत्पत्ति के साथ निष्पन्न होता है तथा कर्मार्थ में 'दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनम्' व्युत्पत्ति के साथ निष्पन्न होता है। दर्शन यथार्थ का ज्ञान कराने हेतु प्रवृत्त होता है यथार्थ ज्ञान मतलब जो जिस स्वरूप वाला है उसे उसी रूप में ग्रहण करना– 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः'। दर्शन का मुख्य प्रयोजन जन्म–जरा–मरण के भव से मुक्त करना है। यह भावना दर्शन की अपनी अलग पृष्ठभूमि है तथा यहीं से इसकी वैज्ञानिकता का भी आरम्भ होता है। 'आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्षः' अर्थात् आत्मा का अपने स्वरूप में स्थिति हो जाना ही मोक्ष है। इस परमपद को प्राप्त करने हेतु अनेक विचारधाराओं ने अपना–अपना मत प्रस्तुत किया जो कालान्तर में सम्प्रदाय कहलाये। भारतीय दर्शन के आस्तिक एवं नास्तिक के भेद से द्विविध विभाजन में सांख्य–योग–न्याय–वैशेषिक–मीमांसा–वेदान्त छः दर्शन आस्तिक तथा चार्वाक–जैन–बौद्ध नास्तिक दर्शन कहलाये। कालान्तर में इनका अवान्तर विभाग भी हुआ लेकिन सबका मूल उद्देश्य यथार्थ ज्ञान को सर्वव्यापी करना था।

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक जैमिनि ऋषि ने 16 अध्यायों वाला मीमांसासूत्र लिखा। यही मीमांसा दर्शन का मूलग्रन्थ है। इन 16 अध्यायों में से प्रथम 12 अध्यायों का ही नियमित पाठ होता आया है अन्तिम 4 अध्याय परिशिष्ट के रूप में ग्रहण किये जाते हैं क्योंकि शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति, पादसंगति एवं अधिकारसंगति के बाद जो अंश शेष रह गया उसका अन्तिम 4 अध्यायों में विवेचन हुआ। इसीलिए 12 अध्यायों की प्रधानता होने के कारण मीमांसासूत्र को द्वादशलक्षणी भी कहते हैं। 16 अध्यायों में विभाजित यह ग्रन्थ अधिकरण एवं सूत्ररूप में दर्शनलभ्य है। जहाँ अधिकरण एवं सूत्रों के निश्चित संख्या के निर्धारण में वैमत्य है। सूत्रों की संख्या के पक्ष में कुछ विद्वान् 2742 सूत्र मानते हैं तो कुछ विद्वान् 2652 सूत्र स्वीकार करते हैं। आनन्द आश्रम पूना से प्रकाशित न्यायमाला ग्रन्थ में मीमांसासूत्र के सूत्रों की संख्या 2745 मानी गयी है। यह वैमत्य भाट्ट–गुरु–मुरारी सम्प्रदायों के विभाजन के कारण हुआ है। इसी प्रकार अधिकरण के विषय में भी मतभेद है जैसे कि किसी विद्वान् ने 915 अधिकरण स्वीकार किये तो किसी ने 907 अधिकरण माने। मीमांसासार संग्रह के रचनाकार शंकरभट्ट जी ने कुल 1000 अधिकरण स्वीकार किये हैं। इस प्रकार मीमांसासूत्र का विभाजन हुआ।

मीमांसा दर्शन मुख्य रूप से धर्म का विवेचन करता है। धर्म विवेचन के प्रसंग में ही अनेक मौलिक विचार प्रस्तुत करता है। मान् विचारे धातु से सन् प्रत्यय होकर स्त्रीत्व की विवक्षा में मीमांसा शब्द निष्पन्न होता है अतः मीमांसा का एक अर्थ विचार करना भी होता है। यह विचार धर्म को केन्द्र में रखकर किया जाता है। राजा राधाकान्त देव बहादुर द्वारा विरचित शब्दकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ में मीमांसा शब्द के प्रसंग में द्वादश अध्यायों के वर्णनीय विषयों का संक्षिप्ततः परिचय दिया है, जो इस प्रकार है –

प्रथमेऽध्याये विध्यर्थवादादिरूपं धर्म्मे प्रमाणं निरूपितम्। द्बितीयेऽध्याये यागदानादिकर्मभेदः। तृतीयेऽध्याये प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासार्थकत्वेन तच्छेषत्वम्। चतुर्थेऽध्याये गोदोहनस्य पुरुषार्थत्वप्रयुक्त्या अनुष्ठानं न तु क्रत्वर्थत्वप्रयुक्त्येत्येवमादयः। पञ्चमेऽध्याये क्रमनियतिविधेयत्वादयः। षष्ठेऽध्याये कर्त्तुरधिकारो नान्धादेरित्यादयः। सप्तमेऽध्याये समानमितरच्छ्येनेन इत्यादि प्रत्यक्षवचनेनाग्निहोत्रादि–नाम्नानुमितवचनेन च सामान्यतोऽतिदेशः। अष्टमेऽध्याये सौर्यं चरुं निर्वपेदित्यत्र निर्वापस्तद्धि तेन देवतानिर्द्देशः एकदैवतत्त्वमौषधद्रव्यकत्वमित्यादिना लिङ्गेनाग्नेयपुरोडाशेतिकर्त्तव्यता–नान्यस्येत्येवमादिविशेषातिदेशः। नवमेऽध्याये प्रकृतावग्नये युष्टं निर्वपामीति पठिते मन्त्रे विकृतौ सौर्यचरावग्निपदपरित्यागेन सूर्यपदप्रक्षेपेण सूर्याय युष्टं निर्वपामीत्येवमादिरूहः। दशमेऽध्याये कृष्णलेषु चोदकप्राप्तस्यावघातस्य वितुषीकरणासम्भवेन लोप इत्येवमादिर्वाधः। एकादशेऽध्याये बहूनामाग्नेयादीनां प्रधानानां सकृदनुष्ठितेन प्रयाजाद्यङ्गेनोपकार इत्यादि तन्त्रम्। द्वादशेऽध्याये प्रधानस्य पशोरुपकाराय अनुष्ठितेन प्रयाजाद्यङ्गेन पशवङ्गपुराडाशेऽप्युपकार इत्यादिप्रसङ्गः।

इस प्रकार से संक्षिप्त रूप से मीमांसासूत्र में अध्यायक्रम से वर्णित विषयों का परिचय कराया गया है। मीमांसा दर्शन का मुख्य रूप से यज्ञादिकर्मों से सम्बन्ध है। जिसके प्रसंग में अनेक विषयों का विवेचन हुआ है। यह यथाप्रसंग दर्शन के सृष्टि, जीव, मोक्षादि का भी वर्णन करता है जिसका उल्लेख तत्तत्प्रकरणों में दृष्टिगोचर है। मीमांसा दर्शन अन्य दर्शनों की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध दर्शन है।

24.2 धर्म

मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय धर्म है। यह धर्म शब्द संस्कृत के धृञ् धारणे धातु से निष्पन्न होता है यह 'धारण करने वाला' अर्थ का द्योतक है। उक्ति भी है – 'धारणाद् धर्म इत्याहुः'। मीमांसा सूत्र के प्रारम्भ में ही 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र से सम्पूर्ण शास्त्र को धर्म के अधिकरण में समाहित करता है। अर्थसंग्रह के प्रारम्भ में ही जैमिनि द्वारा रचित द्वादशलक्षणी अर्थात् मीमांसासूत्र को धर्मविवेक के लिए रचित बताया गया है– 'अथ परमकारुणिको भगवान् जैमिनिधर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनाय'। धर्म के विषय में अन्य शास्त्रों में भी अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं जैसे– वैशेषिक दर्शन में 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' तथा अन्यत्र भी 'आचारः परमो धर्मः', 'अयञ्च परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्'। इस प्रकार अन्य शास्त्रों में धर्म का विवेचन हो जाने के पश्चात् पुनः धर्मविवेचन की क्या आवश्यकता है? महर्षि जैमिनि की इसमें क्यों प्रवृत्ति हुई? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर इसका समाधान किया जा रहा है कि अन्य शास्त्रों में धर्म की केवल प्रतिज्ञा मात्र हुई है धर्म के स्वरूप का परिष्कार नहीं हुआ है– 'न हि प्रतिज्ञामात्रेण वस्तुसिद्धिः इति न्यायेन पूर्वं प्रदर्शितैः प्रमाणैः धर्मप्रतिज्ञैव कृता, न धर्मस्वरूपमग्रे परीक्षितम्'। भगवान् जैमिनि के इस शास्त्र के निर्माण का कारण बताते हुए कहते हैं कि – 'जागतानां पदार्थानामुद्देशो लक्षणं तत्परीक्षैवाग्रे समुपलभ्यते, न पुनरध्यात्मशोधनाय वेदप्रतिपादितो धर्म इतिकर्त्तव्यतादिभिस्सम्यग्विवेचित इति सर्वथा धर्मानुष्ठातृभिः जैमिनिविरचितमिदं विपुलं शास्त्रमेव शरणीकरणीयम्। तथाहि– शास्त्रेऽस्मिन् द्वादसस्वध्यायेषु क्रमेण धर्मस्वरूपतत्प्रमाण–भेद–शेषत्व–प्रयुक्ति–क्रमाधिकारसामान्यातिदेशविशेषातिदेशोहबाध–तन्त्रप्रसङ्गरूपा धर्मसम्बन्धिनो विषया विवेचिताः। स्वर्गादिफलाय यथा यागादिः करणम्, प्रयाजादयश्चेतिकर्त्तव्यता तथा धर्मे फले साधनीये वेदः करणं मीमांसा चेतिकर्त्तव्यता। तदुक्तं भट्टपादैः –

धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति।।

'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र में 'अथ' शब्द आनन्तर्य का वाचक है। शास्त्रों में अथ शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है जैसे – मंगल, आनन्तर्य, आरम्भ, प्रश्नादि अर्थों में प्रयुक्त होता है– 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ'। प्रस्तुत प्रसंग में आनन्तर्य अर्थ में प्रयुक्त है। किन्तु श्रवण से मंगलार्थ भी ग्राह्य है क्योंकि अन्य प्रयोजन से ले जाया जाता हुआ जलपूर्ण कुम्भ यात्राप्रसंग में दर्शनमात्र से मंगलकारी होता है – 'चाथशब्दस्यान्यार्थं नीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायोपकल्पत इति मन्तव्यम्'। अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ में प्रयुक्त होने से यहाँ किसी पूर्ववर्त्ती कर्म की अपेक्षा होती है। इसलिए यहाँ वेदाध्ययन ही पूर्ववर्त्ती कर्म है– 'अत्र अथशब्दो वेदाध्ययनानन्तर्यवचनः'। तथा 'अतः' शब्द वेदों के दृष्टार्थत्व का बोधक है – 'अतः शब्दो हि वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं'। और यहाँ 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि से यह निश्चित होता है कि वेदों का दृष्टार्थ उनका अर्थज्ञान ही है – 'तदध्ययनस्यार्थज्ञानरूपदृष्टार्थम्'। इस प्रकार वेदों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् तथा उनका यथार्थ आशय समझ लेने के बाद धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए ऐसा अर्थ लेना चाहिए।

हमारे शास्त्रों की बहुत ही अच्छी एवं प्रचलित परम्परा रही है कि किसी विषय पर विशेष ध्यान आकृष्ट करने के लिए विभिन्न शैलियों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रसंग में

इस शास्त्र के ध्येय विषय धर्म को जानने के लिए अर्थसंग्रहकार प्रश्न करते हैं कि यह धर्म क्या हैं? इसका लक्षण क्या है? तथा इसका स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'यागादिरेव धर्मः' अर्थात् यागादि ही धर्म है। याग वेद विहित कर्म है और वेद धर्म का द्योतक है अतः वह वेद विहित याग कर्म धर्म हुआ तथा इसी के साथ वन्दनादि के धर्म होने का वारण करते हैं – 'यागादिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादेर्धर्मत्वं वारयति। न चैत्यवन्दनादिर्धर्मस्तत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः'। याग के साथ आदि शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि याग के साथ–साथ दान, होम आदि को भी धर्म मानना चाहिए – 'आदिपदेन दानहोमादयो द्रव्यगुणादयश्च गृह्यन्ते'।

धर्म के प्रसंग में अन्यान्य शास्त्रों में अनेक विवेचन द्रष्टव्य हैं दर्शनशास्त्रों में भी धर्म के विषय में अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसका संक्षिप्ततः निर्देश इस प्रकार है – 'अन्तःकरणवृत्तिविशेषं केचन धर्ममाहुः। विज्ञानवासनां धर्मं वदन्ति कतिपये। पुद्गलाख्यान् परमाणून् धर्ममेके मन्यन्ते। आत्मनो विशेषगुणं धर्मं प्रवदन्त्यपरे। अपूर्वं धर्ममित्येके मेनिरे। चैत्यवन्दनं धर्ममित्यन्ये। आत्मदर्शनमेव धर्मः इत्यन्ते'। इस प्रकार अन्यान्य दर्शनों में भी धर्म का स्वरूप बताया गया है। अर्थसंग्रहकार धर्म का लक्षण स्पष्ट करते हैं – 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' अर्थात् वेद द्वारा प्रतिपादित, प्रयोजन वाला एवं सार्थक होना ही धर्म का लक्षण है। यह लक्षण अपने आप में सम्पूर्ण मीमांसा शास्त्र को समाहित करता है। इस लक्षण के विशेष व्याख्यान से ही इसका अभिलषित अर्थ प्राप्त होगा। जहाँ लक्षण के तीनों दोषों का अभाव होना निश्चित होगा तथा लक्षण का यथार्थ होना निश्चित होगा। लक्षण का लक्षण इस प्रकार है – 'व्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवत्रिदोषरहितत्वं लक्षणत्वम्' अर्थात् व्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीन दोषों से रहित होना ही लक्षण का लक्षण है। इस प्रकार इन तीनों दोषों के द्वारा 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' लक्षण का परीक्षण होगा।

'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इस वाक्य में वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवत् एवं अर्थ ये तीन पद लक्षण हैं तथा धर्म पद लक्ष्य। धर्म के लक्षण के इन तीन पदों का क्रमशः परीक्षण करके, इनकी उपयुक्तता देखकर तथा व्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीनों दोषों का अभाव प्राप्त होने पर ही लक्षण को यथार्थ माना जायेगा। इस प्रसंग में लक्षण के अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीनों दोषों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। अव्याप्ति – 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः' अर्थात् लक्ष्य के किसी एक अंश में लक्षण का न होना अव्याप्ति दोष है जैसे – 'शाबलेयत्वम्' अर्थात् चितकबरा वर्ण का होना गौ का लक्षण है लेकिन लोक में श्वेत, कृष्ण, रक्त, कपिश आदि वर्णों की गौ को देखा जाता है अतः गौ का यह लक्षण सम्पूर्ण देश को आवृत्त न कर पाने के कारण अव्याप्ति दोष वाला है। अतिव्याप्ति – 'अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः' अर्थात् अलक्ष्य अथवा लक्ष्य से भिन्न में भी वृत्ति का होना अतिव्याप्ति दोष है। जैसे – 'शृङ्गित्वम्' अर्थात् शृंग होना गौ का लक्षण है लेकिन गौ से भिन्न अर्थात् अलक्ष्य अजादि, महिषादि में भी शृंग पाया जाता है अतः लक्ष्य के साथ–साथ अलक्ष्य में भी लक्षण का पाया जाना अतिव्याप्ति दोष है। असम्भव – 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः' अर्थात् लक्ष्यमात्र में लक्षण का न पाया जाना सम्भव दोष है। जैसे – 'एकशफत्वम्' अर्थात् एकशफ होना गौ का लक्षण है लेकिन एकशफ वाले ऊंट आदि पशु हैं, गौ द्विशफ वाला पशु है अतः यह लक्षण गौ में अंशमात्र भी नहीं पाया जाता अतः असम्भव दोष है। इन तीनों दोषों से रहित होना ही लक्षण का लक्षण है –**'अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्'**।

वेदप्रतिपाद्य अर्थात् जो वेद द्वारा प्रतिपादित हो यह लक्षण का प्रथम पद है। इस पद का लक्षण में ग्रहण करने का उद्देश्य भोजनादि अवेदप्रतिपाद्य कर्मों का निवारण करना है क्योंकि भोजन क्षुधा की निवृत्ति वाला होने से प्रयोजनवान् है तथा शरीर को पुष्टि करने वाला होने के कारण सार्थक भी है पुनरपि यह अवेदप्रतिपाद्य है। वस्तुतः यह भोजनादि कर्म तो रागतः प्राप्त हैं – 'भोजनादे रागादिनैव प्राप्तत्वात्'। जब भूख लगती है तो उसकी तृप्ति के लिए भोजन किया जाता है यह तो स्वभाव से प्राप्त है इसके लिए वैदिक विधि की अपेक्षा नहीं है –

'भोजनस्य तृप्तिफलकत्वमर्थत्वञ्चास्तीत्यतिव्याप्ति। वेदप्रतिपाद्यत्वेति विशेषणेन सा व्यावर्त्यते। न हि भोजनं वेदप्रतिपाद्यम्। क्षुधं निवर्तयितुं पुरुषस्य प्रवृत्तिर्भोजने दृश्यते, न तु वेदप्रतिपाद्यं भोजनमिति पुरुषः प्रवर्तते'।

इसी प्रकार प्रतिपादिका नामक टीका में प्राप्त है कि भोजन के इष्ट होने पर भी वह वेद द्वारा नहीं कहा जाता है – 'भोजनादेः इष्टसाधनत्वेऽपि तथात्वेन वेदबोधत्वं नास्ति इतिभावः'। इस प्रकार वेदप्रतिपाद्य पद के प्रयोग करने का उद्देश्य है अवेदप्रतिपाद्य भोजनादि कर्मों में धर्म की अतिव्याप्ति न हो जाये। अर्थसंग्रहकार भी संक्षिप्त शब्दों में कहते हैं कि – 'भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्यः इति' अर्थात् भोजनादि में अतिव्याप्ति न हो जाये इसके लिए वेदप्रतिपाद्य पद का प्रयोग किया गया है।

लक्षण के क्रम से द्वितीय पद के रूप प्रयोजनवत् पद प्राप्त है। प्रयोजनवान् कहने का आशय किसी प्रयोजन अथवा उद्देश्य से युक्त होने से है। मीमांसा में अनेक कर्मों का सम्पादन करने के क्रम में प्रायः स्वर्ग शब्द प्राप्त हुआ है लेकिन यहाँ पर स्वर्ग शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि स्वर्ग स्वयं लक्ष्यरूप है। स्वर्गादि मुख्य प्रयोजन में अतिव्याप्ति न हो जाये इसलिए यहाँ प्रयोजनवान् शब्द का प्रयोग हुआ है – 'प्रयोजनेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रयोजनवत् इति'। अतः धर्म के लक्षण में प्रयोजनवान् शब्द का प्रयोग करने से यह धर्म किसी लक्ष्य को प्राप्त कराने का साधन है। क्योंकि साधन ही प्रयोजनवान् हो सकता है साध्य नहीं – 'प्रयोजनं स्वर्गादिकम्। तत्र 'स्वर्गकामः', 'पुत्रकामः', 'पशुकामः' इत्यादि वेदप्रतिपाद्यत्वमस्ति अर्थत्वञ्च वर्तते इत्यतिव्याप्तिः। प्रयोजनवत्वविशेषणेन सा व्यवर्त्यते, स्वयं तस्य प्रयोजनत्वेन प्रयोजनस्य प्रयोजनान्तराभावात्'। ज्योतिष्टोम आदि याग धर्म हैं ये स्वर्गादि फल के प्राप्त होने में साधन का कार्य करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत लक्षण में प्रयोजनवान् होने से धर्म का लक्षण सिद्ध होता है।

धर्म के लक्षण में तृतीय पद के रूप में अर्थ पद प्राप्त है। अर्थसंग्रहकार कहते हैं कि यदि धर्म के लक्षण में अर्थ पद को माना जाय तो धर्म का लक्षण ध्येनादि में अतिव्याप्त होने लगेगा। इस प्रकार ध्येनादि कर्म भी धर्म की श्रेणी में आने लगेंगे। इसका निर्वारण करने हेतु अर्थ पद प्रयुक्त हुआ है। यह श्येन याग भी वेदविहित है पुनः इसमें प्रवृत्त होने में अनर्थ क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह कर्म भले ही वेदप्रतिपादित है किन्तु अनिष्ट नरक का जनक होने के कारण यह अनर्थभूत है? पुनः प्रश्न उठता है कि यह श्येन याग नरक का जनक कैसे है? यह श्येन याग युद्ध के समय किसी राजा के द्वारा अपने शत्रु पर विजय प्राप्ति करने हेतु किया जाता है। इस श्येन याग के सम्पादन से शत्रु का नाश हो जाता था। इस प्रकार इससे इष्ट की प्राप्ति होती थी लेकिन पापकर्म होने के कारण श्येन कर्म का अनुष्ठान कराने वाले को प्रायश्चित्त कर्म करना पड़ता था अथवा नरक की प्राप्ति होती थी इसलिए यह श्येन याग अनिष्ट नरक की प्राप्ति का कारण होने से अनर्थभूत कहा गया है –

'श्येनफलस्य शत्रुवधस्य नरकजनकत्वेन अनर्थत्वात् श्येनोऽपि तद्द्वारा अनर्थ एव, तस्यापि शत्रुवधद्वारा नरकजनकत्वादिति भावः'।

अतः अर्थभूत एवं इष्टभूत कर्म ही धर्म के लक्षण में समाहित होने योग्य है। इस प्रकार धर्म के लक्षण में गृहित वेदप्रतिपाद्य, प्रयोजनवत् एवं अर्थ पद तीनों दोषों से रहित हैं अतः धर्म का यह लक्षण शुद्ध एवं दोषरहित निष्पन्न होता है –

'वेदप्रतिपाद्यत्वे प्रयोजनवत्वे च सत्यर्थत्वं धर्मत्वमिति धर्मलक्षणमुपपन्नम्'।

मीमांसा सूत्र द्वारा प्रदत्त धर्म का लक्षण 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' तथा अर्थसंग्रहकार के धर्म के लक्षण 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' में भिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है क्योंकि चोदना पद से वेद के विधिमात्र का प्रतिपादन हो रहा है सम्पूर्ण वेद का नहीं, यदि आपका ऐसा कहना है तो यह प्रासंगिक नहीं, क्योंकि यह चोदना शब्द तो सम्पूर्ण वेद का वाचक है –

'चोदनाशब्दो विधिनिषेधवाक्यपर एव, विधिनिषेधानाञ्च वेदैकदेशत्वमेव, तथापि वेदमात्रपरश्चोदनाशब्दः। वेदश्च विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयनिषेधात्मना विभक्तः। तत्र विधेरन्यैर्वेदभागैरर्थवादादिभिर्नियतस्सम्बन्धः अर्थवादानां विध्येकवाक्यत्वम्, मन्त्राणाञ्च विधेययागादिसमवेतार्थप्रकाशकत्वेन विधिसम्बन्धः, नामधेयानाञ्च विध्येकदेशत्वम्, निषेधानाञ्च विधिरूपत्वमिति चोदनाशब्दो वेदमात्रपर इति भावः'।

इस प्रकार वह चोदना शब्द वेद के सम्पूर्ण भागों का बोधक होने के कारण धर्म के दूसरे लक्षण से भिन्न नहीं। तथा यह चोदना शब्द वेदों की प्रतिपादक होने से तथा वेदों का धर्म में तात्पर्य होने से सभी वेद धर्म के प्रतिपादक हैं ऐसा मानना चाहिए – 'तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्'। इस धर्म का याग के रूप में 'यजेत स्वर्गकामः' की भावना से पुरुष को स्वर्ग प्राप्त कराने के उद्देश्य से विधान किया जाता है।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में धर्म का अत्यन्त विस्तृत रूप में वर्णन प्राप्त होता है। मीमांसा दर्शन के प्रकरण ग्रन्थ रूप में प्राप्त अर्थसंग्रह के प्रारम्भ में संक्षिप्त रूप में धर्म का विवेचन प्राप्त होता है लेकिन धर्म को उसके यथार्थरूप में व्याख्यायित करने के लिए पर्याप्त है। धर्म के विवेचन के प्रसंग में 'अथातो धर्मजिज्ञासा', 'यागादिरेव धर्मः', 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इन प्रमुख वाक्यों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया। तथा इनपर विचार करने से धर्म के यथार्थ स्वरूप को जान सके।

24.3 भावना निरूपण

भावना शब्द भू धातु प्रेरणा अर्थ में णिच् तथा ल्युट् प्रत्यय होकर स्त्रीत्व की विवक्षा में निष्पन्न होता है। यह मीमांसा दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। 'यजेत स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाले पुरुष को याग करना चाहिए। यहाँ 'यजेत' इस विधेय समर्पक पद में दो अंश हैं – यजि धातु एवं त प्रत्यय। त प्रत्यय में भी दो अंश हैं – आख्यातत्व एवं लिङ्त्व। इस आख्यातत्व एवं लिङ्त्व के सम्मिलित स्वरूप को ही भावना कहते हैं – 'उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते'। यहाँ जो आख्यातत्व है वह दशों लकारों में प्रवृत्त होता है लेकिन जो लिङ्त्व है वह केवल

लिङ् लकार में ही प्रवृत्त होता है। आख्यातत्व एवं लिङ्त्व का विज्ञान आगे विध्यादि प्रसंगों के स्पष्टतः वर्णित है।

'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः भावना' अर्थात् उत्पन्न होने वाले की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजक का जो व्यापार विशेष है वही भावना है। यदि इसे सरल शब्दों में कहना चाहें तो जो वस्तु उत्पन्न हो हुई है उस वस्तु के उत्पन्न होने में व्यक्तिविशेष का जो विशेष प्रकार का व्यापार है वह व्यापार मानसिक एवं शारीरिक दोनों हो सकता है इसे ही भावना कहते हैं। इसका लौकिक उदाहरण देते हुए कहते हैं कि देवदत्त द्वारा चावल बनाने के प्रसंग में किया गया विशेष व्यापार भावना है तथा देवदत्त का इस चावल बनाने रूपी कर्म के अनुकूल प्रवृत्ति चैत्र का अभिप्राय विशेष है –

'यथोत्पद्यमानस्यौदनस्योत्पत्त्यनुकूलो देवदत्तस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः। यथा चोत्पद्यमानाया देवदत्तप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलः प्रवर्तकस्य चैत्र स्याभिप्रायविशेषः'।

यहाँ चैत्र भावयिता हुआ तथा देवदत्त भवितृ हुआ क्योंकि कर्म में प्रवृत्ति देवदत्त की हो रही लेकिन इसकी मूलभावना चैत्र से सम्बद्ध है। इसी प्रकार इसका वैदिक उदाहरण देते हैं कि 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य स्वर्ग प्राप्त करने वाले की याग के प्रति अनुकूल प्रवृत्ति हुई। यहाँ वैदिक वाक्य भावयिता हुआ तथा प्रवृत्त पुरुष भवितृ हुआ –

'यथा वा 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्रोत्पद्यमानस्य धात्वर्थस्य स्वर्गस्य वोत्पत्त्यनुकूलः स्वर्गकामस्य व्यापार उत्पद्यमानायाश्च स्वर्गकामप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलो लिङो व्यापारविशेषः। तथा चान्योत्पादनानुकूलो भावुकस्य व्यापारविशेषो धात्वर्थादन्यः सर्वधात्वर्थसम्बद्धाकारेण भासमानो भावनासामान्यमिति सिद्धम्'।

यह भावना मुख्य रूप से दो भेदों वाली होती है – 1. शाब्दी भावना एवं 2. आर्थीभावना। शाब्दी भावना का लक्षण करते हुए कहते हैं कि 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना'। अर्थात् पुरुष की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रयोजक का विशेष प्रकार का व्यापार ही शाब्दी भावना कहलाता है। यहाँ प्रयोजक कोई व्यक्तिविशेष हो सकता है अथवा वेद या शब्द भी हो सकता है। यह भावना प्रत्यय के लिङ अंश से कही जाती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस लिङ अंश के श्रवण मात्र से ही यह बोध हो जाता है कि अमुक व्यक्ति अथवा अमुक शब्द मुझे कर्म में प्रवृत्त करना चाहता है अथवा यह मुझे प्रवृत्त करने के अनुकूल व्यापार वाला है – 'लिङ्श्रवणे 'अयं मां प्रवर्तयति', 'मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयम्' इति नियमेन प्रतीतेः। इसका लौकिक उदाहरण है कि – 'गामानय' यह अत्यन्त प्रचलित उदाहरण है। एक अत्यन्त वृद्ध किसी पुरुष से कहता है कि गौ लाओ। उस वृद्ध की बात सुनकर वह पुरुष सोचता है कि यह वृद्ध मुझे गाय ले जाने रूपी कार्य में प्रवृत्त करना चाहता है और वह तद्वत कर्म करता है। इस प्रकार यहाँ भावयिता के रूप में वृद्ध पुरुष है तथा भविता के रूप में पुरुष है।

यहाँ यह व्यापारविशेष लौकिक वाक्य में पुरुषनिष्ठ होने के कारण पुरुष के अभिप्रायविशेष वाला होगा। इस प्रकार लौकिक वाक्य में प्रयोजक के रूप में आचार्यादि का ग्रहण होगा जिनके शब्द से लिङादि का अर्थ समझा जायेगा। जैसे कि 'गामानय' में वृद्ध के अभिप्रायविशेष को जानकर पुरुष की प्रवृत्ति होती है। किन्तु वैदिक वाक्यों में पुरुष का अभाव होने यह अभिप्रायविशेष लिङ्गशब्दनिष्ठ होता है। इसलिए यहाँ

वेदवाक्यों के श्रवणमात्र से तथा विधिवाक्यों से प्रेरित होने के कारण ही कोई पुरुष किसी कर्म में प्रवृत्त होता है।

शाब्दी भावना के प्रकरण में तीन अंशों का वर्णन प्राप्त होता है – 1. साध्य 2. साधन एवं 3. इतिकर्तव्यता। यही आकांक्षात्रय कहलाते हैं। इसके लिए मीमांसा दर्शन में किं भावयेत्, केन भावयेत् तथा कथं भावयेत् शब्द प्राप्त होता है। इनका आशय यह है कि शाब्दी भावना से क्या सिद्ध किया जाये? किससे सिद्ध किया जाये? एवं कैसे सिद्ध किया जाये? इन तीनों आकांक्षाओं से ही शाब्दी भावना का प्रकरण पूर्ण होता है तथा शाब्दी भावना व्यापकता सिद्ध होती है। यहाँ शाब्दी भावना की साध्याकांक्षा आगे कहे जाने वाले आर्थीभावना के अंशत्रय हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि एक ही प्रत्यय से ज्ञात होने के कारण शाब्दी भावना एवं आर्थी भावना दोनों का ग्रहण हो जाता है – 'साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति, एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। इसी प्रकार अंशत्रय के द्वितीय अंश साधनाकाङ्क्षा के प्रसंग में लिङादि ज्ञान का साधन के रूप में ग्रहण होता है। और इस लिङादि की करणता इसलिए सिद्ध नहीं होती कि इससे भावना की उत्पत्ति होती है यह तो पूर्व से ही उसमें समाहित होती है अपितु उस लिङादि से भावना का अर्थ व्यापक होता है तथा शाब्दी भावना के साध्य का साधन होता है – 'साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति। तस्य करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात्, किन्तु शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन। शाब्दी भावना अंशत्रय की अन्तिम आकांक्षा इतिकर्तव्यता है। अर्थवाद से बोध्य प्रशस्तता अथवा निन्दितता का शाब्दी भावना के इतिकर्तव्यता के रूप में ग्रहण होता है – 'इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति'।

इस प्रकार शाब्दी भावना के साध्य अंशत्रययुक्त आर्थी भावना, साधन लिङादिज्ञान तथा इतिकर्त्तव्यता अर्थवाद से ज्ञाप्य प्राशस्त्यादि को भलीभांति जान लेने के बाद ही शाब्दी भावना का प्रकरण समाप्त होता है।

भावना के द्वितीय भेद के रूप में आर्थी भावना का वर्णन दर्शनलभ्य है। स्वर्गादिरूप प्रयोजन की इच्छा से भविता में उत्पन्न होने वाला यागविषय मानसिक व्यापार ही आर्थी भावना है। इस प्रकार यह भावना कर्म रूप में नहीं होता है अपितु बुद्धि के स्तर पर सम्पादित हो जाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है – 'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना'। यह त प्रत्यय के आख्यातत्वांश से बोधित होती है। यह आख्यातत्व दशों लकारों में होने के कारण आख्यातसामान्य है। इस आर्थी भावना के भी तीन अंश होते हैं – 1. साध्य 2. साधन एवं 3. इतिकर्तव्यता। यहाँ आकांक्षात्रय का स्वरूप इस प्रकार है – किं भावयेत् अर्थात् आर्थी भावना से क्या प्राप्त किया जाये? केन भावयेत् अर्थात् किस साधन से साध्य को प्राप्त किया जाये तथा कथं भावयेत् अर्थात् कैसे प्राप्त किया जाये? इस आकांक्षात्रय की अपेक्षा होने पर तीनों को बताते हुए कहते हैं कि साध्याकांक्षा होने पर स्वर्गादि फल का ही साध्य के रूप में अन्वय होता है– 'साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति'। साधनाकांक्षा होने पर यागादि का करण के रूप में अन्वय होता है – 'साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति'। तथा इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाजादि अंगों का अन्वय होता है – 'इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति'। इस प्रकार आर्थी भावना के अंशत्रय साध्य का स्वर्गादिफल में, साधन का याजादि कर्म में तथा इतिकर्तव्यता का प्रयाजादि अंगों में अन्वय हो जाता है।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में भावना का ग्रहण होता है। वस्तुतः मीमांसा दर्शन में प्रवृत्ति हेतु भावना का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। भावना का प्रवृत्ति रूप अर्थ भी प्राप्त होता है। जहाँ आचार्यादि द्वारा अथवा शब्दों (वेद) द्वारा भावयिता के रूप में उपस्थिति होती है। शाब्दी भावना एवं आर्थी भावना के भेद से भावना का विस्तार दीर्घ हो जाता है तथा दोनों भावनाओं के अंशत्रय भावना को अत्यन्त पुष्ट करते हैं।

24.4 वेद की अपौरुषेयता

'विद् ज्ञाने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर ज्ञान के अर्थ में वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। वेद भारतीय ज्ञान परम्परा के ही नहीं अपितु समस्त मानव सभ्यता के आदिम ग्रन्थ हैं। वेद ही ज्ञान–विज्ञान के आदिम स्रोत हैं। वेद में सम्पूर्ण जीवों के लिए परमकल्याण रूप अनेक सूक्तों में अनमोल विधानों का उन्मूलन किया गया है। वेद की व्युत्पत्ति करते हुए विष्णुमित्र कहते हैं कि – **'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः'** अर्थात् जिससे धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय के स्वरूप का बोध हो, जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त हो तथा जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो उसे वेद कहते हैं। आर्य समाज के संस्थापक श्री दयानन्द सरस्वती जी ने अपने महनीय ग्रन्थ ऋग्वेदभाष्यभूमिका में कहा है कि – 'वेदब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मन्त्र एवं ब्राह्मण को वेद की संज्ञा दी गयी है। सायणाचार्य कहते हैं –**'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'** अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने वेद को परमज्ञान के रूप में ही स्वीकार किया।

दर्शनों में नास्तिक दर्शन शिरोमणि चार्वाक् ने वेदादि का उपहास किया है उन्होंने वेदादि को स्वीकार करने वालों विक्षिप्त बुद्धि वाला कहा है– 'अग्निहोत्रस्त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानाम्।' अन्य नास्तिक दर्शनों ने वेद की स्वीकृति के विषय में मौन धारण किया है। आस्तिक दर्शनों में सभी दर्शनों ने वेद को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। स्वीकार करने के साथ ही उन्होंने वेद की उत्पत्ति के विषय में भी अपना–अपना मत प्रस्तुत किया है। इस दिशा में न्याय दर्शन एवं मीमांसा दर्शन की विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। न्याय दर्शन के अनुसार वेद पौरुषेय है एवं इसकी रचना करने वाला पुरुष ईश्वर है। वो वेदों की पौरुषेयता की सिद्धि करने हेतु अनुमान करते हैं कि 'वेद पौरुषेय हैं, वाक्य होने के कारण, महाभारतादि की तरह'। इस प्रकार न्यायाचार्यों ने वाक्य वाला होने के कारण वेद को पौरुषेय अर्थात् ईश्वरकृत स्वीकार किया। किन्तु मीमांसा दर्शन के अनुसार शब्द नित्य हैं शब्दों का समूह होने के कारण वेद भी नित्य है। मीमांसक नैयायिकों के अनुमान को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि अनुमान सर्वत्र यथावत् सिद्ध नहीं होता, उसमें अनेक प्रकार के दोष देखे जाते हैं। मीमांसकों की दृष्टि में ये वेद अप्राप्य अर्थ का बोध कराने में तथा अज्ञात रहस्यों का प्रतिपादन करने में प्रवृत्त हैं – 'अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत् इति न्यायविदः'।

'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः' इस वाक्य के द्वारा मीमांसकों ने वेदों को अपौरुषेय वाक्य कहा है जिसका आशय है कि वेद किसी की रचना नहीं। वस्तुतः भारतीय परम्परा में वेद अनादि माने गये हैं। कालान्तर में अनेक विचारधाराओं के उत्पन्न होने के कारण अनेक वाद उपस्थित हुए उन्हीं में कुछ विचारों ने वेद की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न उठाये। मीमांसकों ने उन पूर्वपक्षों का निराकरण करते हुए वेदों की अपौरुषेयता मत

की स्थापना की है। पूर्वपक्ष कहता है कि वेदों में अनेक ऋषियों का नाम पाये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋषि ही वेदों के करता हैं इसलिए ये वेद पौरुषेय हुए – 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः'। कहते हैं कि बहुत सारे वेद तो ओ पुरुषों के नाम से जाने जाते हैं जैसे कि काठक, कापालक, पैप्पलादादि। वेदों से सम्बन्ध हुए विना उनका नाम इन वेदों के साथ नहीं लिया जा सकता। और पुरुष का इन शब्दों से केवल एकमात्र सम्बन्ध है कि वे पुरुष ही इसके कर्त्ता हैं – 'पुरुषेण हि सामाख्यायन्ते वेदाः – काठकं कापालकं पैप्पलादकमिति। न हि सम्बन्धादृते समाख्यानम्। न च पुरुषस्यान्यः शब्देनास्ति सम्बन्धो यदतः कर्त्ता पुरुषः कार्यः शब्दः इति'। पूर्वपक्ष के इस मत का खण्डन करते हुए मीमांसकाचार्य कहते हैं कि वेदों में पुरुषों का नाम आना अथवा पुरुषों के नाम पर वेदों को जानना यह बहुत बड़ी बात नहीं है क्योंकि किसी कार्य से किसी व्यक्ति अपरिमेय सम्बन्ध होने के कारण वह कार्य उस व्यक्ति के नाम से ही जाना जाता है। इसी प्रकार यदि किसी वेद का किसी पुरुषविशेष के नाम से व्यवहार हो रहा है तो इसका आशय यह नहीं कि वह पुरुषविशेष ही उसका कर्त्ता है, इसका आशय यह है कि वह पुरुष उस वेद का अप्रतिम व्याख्या करने वाला है अथवा उपदेश करने वाला है। लोक में भी देखा जाता है कि किसी एक पुरुष के द्वारा रचित कोई शास्त्र अनेकों पुरुषों के द्वारा व्याख्यायित होता है – 'यदुक्तं कर्त्तृलक्षणा समाख्या काठकाद्येति। तदुच्यते – नेयमर्थापत्तिः अकर्त्तृभिरपि ह्येनामाचक्षीरन्। प्रकर्षेण वचनमनन्यसाधारणं कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्तथापि हि समाख्यातारो भवन्ति। इन पुरुषों का नाम वेदों के साथ सम्बद्ध होने का आशय उन वेदों के दीर्घकाल तक अध्ययन अध्यापन करने से है – 'आख्या प्रवचनात्'। इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्रथम मत का खण्डन हो गया।

अब पूर्वपक्ष द्वारा दूसरा मत प्रस्तुत किया जा रहा कि वेदों में अनित्य पदार्थों का उल्लेख होने के कारण वेद अनित्य हैं – 'अनित्यदर्शनाच्च'। इसी प्रकार 'वबरः प्रावाहणिरकामयत कुरुविन्द औद्दालकिरकामयत' अनित्य वाक्यों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों का प्रयोग होने से यह प्रतीत होता है कि वेदों की रचना किसी काल विशेष में हुई है जिससे कालावच्छादित होने के कारण कारण वेद अनित्य हैं। पूर्वपक्ष के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वेदों में इस प्रकार के वचनों का श्रवण केवल ध्वनिमात्र है इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं – 'परं तु श्रुसामान्यमात्रम्'। क्योंकि इतिहास में प्रवाहण नाम का कोई पुरुषविशेष प्रसिद्ध नहीं है। वस्तुतः यह प्रवाहण शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक वह् धातु से इ प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है कि जो प्रवाहित करता है वह प्रावाहणि कहलाता है – 'यत् प्रावाहणिरिति जननमरणवतां निर्देश इत्युक्तम्। तत्र प्रवहाणाख्यस्य पुरुषस्याप्रसिद्धत्वात् न प्रवहाणस्यापत्यं प्रवाहणिरित्यर्थः। परन्तु प्र+वह्+इ इति व्युत्पत्त्या यः प्रवाहयति स प्रावाहणिः'। इस प्रकार से पूर्वपक्ष के द्वितीय मत का खण्डन कर मीमांसकाचार्यों ने वेद की अपौरुषेयता स्थापित की है।

पूर्वपक्ष का तीसरा मत है कि वेदों में उन्मत्त एवं बालवचन के समान शब्दों का प्रयोग हुआ है जैसे कि 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि – 'अथ कथमवगम्यते नायमुन्मत्तबालवाक्यसदृश इति? तथा हि पश्यामः 'वनस्पतयह सत्रमासत', 'सर्पाः सत्रमासत' इति। 'जरद्गवो गायति मत्तकानि कथम् नाम जरद्गवो गायेत्? कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासीरन् इति?' पूर्वपक्ष के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वेदों में जो कुछ भी कहा गया है उसका किसी न किसी कर्म से अवश्य विनियोग है – 'कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्'। क्योंकि जब ज्योतिष्टोम

शब्द का प्रयोग होता है तो उसमें आकांक्षा की पूर्ति के लिए 'कर्त्तव्यः' क्रिया का संयोग होता है। इसके बाद प्रश्न उपस्थित होता है कि किस साधन से यज्ञ सम्पन्न हो – 'विनियुक्तं हि दृश्यते, परस्परेण सम्बन्धार्थम्। कथम्? ज्योतिष्टोमः इत्यभिधाय 'कर्त्तव्यः' इत्युच्यते। 'केन' इत्याकांक्षिते सोमेनेति। 'किमर्थम्' इति स्वर्गायेति', पुनः उत्तर प्राप्त होता है कि सोम नामक द्रव्य से यज्ञ की भावना करनी चाहिए। 'किमर्थम्' – क्यों, स्वर्ग गमन हेतु।

24.5 विधि

वेदों के पञ्चविध भेदों में विधि प्रथम भेद है। इसका लक्षण इस प्रकार है– **'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः'** अर्थात् अज्ञात अर्थ का बोध कराने वाले वेद के अंश को विधि कहते हैं। यह विधि सभी वेदभागों का मूल है। इसका आश्रय लेकर ही मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए यह विधि अन्य प्रमाणों से प्राप्त न होने वाले अर्थ का विधान करती है अतः प्रमाणान्तर से अज्ञात एवं प्रयोजनवत् अर्थ का विधान करने से विधि की सार्थकता दृष्टिगत होती है – **'स च तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते'।** इसका उदाहरण देते हैं – अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अग्निहोत्र करना चाहिए। यहाँ स्वर्ग की प्राप्ति हेतु अग्निहोत्र याग का विधान विधि से अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से नहीं हो सकता है तथा इस विधि से प्रस्तुत वाक्य वाक्यार्थ हुआ 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावेयत्' अर्थात् अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना करें। इस प्रकार वेद के पञ्चविध भेदों में से प्रथम भेद विधि का स्वरूप अज्ञातार्थ का बोध कराना है।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह वाक्य विधि के द्वारा अप्राप्त स्वर्ग को प्राप्त करने के साधन अग्निहोत्र नामक कर्म का विधान करता है। लेकिन अन्य स्थानों पर कर्म का विधान किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त होने पर प्रमाणान्तर से प्रतिपादित कर्म को उद्देश्य करके गुणमात्र का विधान होता है। इसे गुणविधि कहते हैं। जैसे कि 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में साधन के प्राप्त तथा कर्म के अप्राप्त होने पर 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से विधि की सिद्धि होती है। इस प्रकार 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में होम को उद्देश्य कर केवल गुणमात्र (दधि) का विधान किया गया है कर्म का नहीं। अतः प्रमाणान्तर से कर्म का विधान करके पूर्ण होता है। इस प्रकार प्रस्तुत वाक्य द्वारा 'दध्ना होमं भावयेत्' अर्थात् दधि से होम करें, ऐसा अर्थ ग्रहण होता है।

कुछ प्रसंग ऐसे भी प्राप्त होते हैं जहाँ गुण एवं कर्म दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त हैं वहाँ विधि द्वार गुण से विशिष्ट कर्म का विधान होता है वह विशिष्ट विधि कहलाती है – 'यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते'। इसका उदाहरण देते हैं 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में सोम एवं याग दोनों अप्राप्त हैं अतः सोमविशिष्ट याग का विधान किया जाता है। सोम में मत्वर्थलक्षणा से सोमेन के स्थान पर सोमवता मान लेने पर 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' अर्थात् सोमयुक्त याग से इष्ट की भावना करें, ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। यहाँ सोमपद से सोम एवं याग इन दो अर्थों का विधान होने पर वाक्यभेद दोष होगा क्योंकि दोनों का पृथक् पृथक् विधान नहीं हुआ है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है यहाँ तो गुणविशिष्ट कर्म का ग्रहण हुआ है जो विशेषणयुक्त है। अतः यहाँ वाक्यदोष नहीं है।

इसी प्रकार यदि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि द्वारा सोम रूप गुण का विधान मान लिया जाये तो 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में मत्वर्थलक्षणा स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है? ऐसा प्रश्न उठने पर अर्थसंग्रहकार कहते हैं कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यह अधिकार विधि है यह उत्पत्ति विधि नहीं हो सकती। इसलिए 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि द्वारा सोम का विधान होना अपरिहार्य है। यहाँ पुनः शंका उत्पन्न की जा रही है कि जिस प्रकार 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह उद्भिद नामक याग का बोधक है तथा अधिकार एवं उत्पत्ति दोनों विधियाँ हैं इसी प्रकार 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य को भी अधिकार एवं उत्पत्ति विधि वाला क्यों न मान लिया जाये? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' वाक्य में इन दोनों विधियों को मान लेने यज्ञ एवं यज्ञफलपरक दोनों विधान साथ साथ प्राप्त होने लगेगा जिससे वाक्यदोष होगा। इसलिए 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में मत्वर्थलक्षणा को स्वीकार करके सोमविशिष्ट याग का विधान मान लेते हैं।

आगे विधि को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया गया है– 1. उत्पत्ति विधि 2. विनियोग विधि 3. प्रयोग विधि एवं 4. अधिकार विधि। विधि के चतुर्विध भेदों में से प्रथम भेद उत्पत्ति विधि है जिसका लक्षण इस प्रकार है–**'तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः'** अर्थात् यागादि कर्म स्वरूप मात्र का बोध कराने वाली विधि का नाम उत्पत्ति विधि है। इसका उदाहरण देते हैं– 'अग्निहोत्रं जुहोति' यहाँ इस विधि में अग्निहोत्र कर्म का करण के रूप में अन्वय हुआ है अतः इसका वाक्यार्थ होगा 'अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्' अर्थात् अग्निहोत्र नामक होम से इष्ट की भावना करें। यहाँ याग के दो रूप बताये गये हैं – द्रव्य एवं देवता। 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में द्रव्य एवं देवता रूप का श्रवण न होने पर भी इसमें उत्पत्ति विधि कैसे होगी? यदि अग्निहोत्र शब्द को तत्प्रख्यन्याय से नामधेय मान लें तो ऐसा नहीं हो सकता क्यों कि तत्प्रख्यन्यास से अग्निहोत्र नामधेय नहीं हो सकता अपितु विधि ही होगा क्योंकि रूपों का श्रवण न होने पर भी यहाँ उत्पत्ति विधि है। अन्यथा रूप का श्रवण होने पर ही विधि मानने पर 'दध्ना जुहोति' वाक्य में रूप का श्रवण होने पर उत्पत्ति विधि होने लगेगा तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं है, रूप का श्रवण न होने पर 'अग्निहोत्रं जुहोति' में उत्पत्ति विधि होगी।

24.6 सारांश

मीमांसा दर्शन दर्शनशात्र में धर्मशास्त्र के नाम से जाना जाता है। मीमांसा दर्शन का सम्पूर्ण व्याख्येय विषय धर्म ही है। अथातो धर्मजिज्ञासा से प्रारम्भ हुआ यह शास्त्र धर्म का विवेचन करते हुए समाप्त हो जाता है। मीमांसा दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ अर्थसंग्रह मीमांसा दर्शन के विवेच्य विषयों को संक्षिप्त रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। अर्थसंग्रह के प्रारम्भ में ही अर्थसंग्रह को धर्मविचारशास्त्र कहा गया है– 'अतः धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति'। 'अथातो धर्मजिज्ञासा', 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः', 'यागादिरेव धर्मः', 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इन धर्मसूत्रों का विवेचन करते हुए धर्म के यथार्थस्वरूप को प्रतिपादित करते हुए धर्म का प्रसंग समाप्त होता है। धर्म के विश्लेषण करने के पश्चात् मीमांसा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द भावना का विवेचन किया जाता है। जहाँ 'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः भावना' भावना के इस लक्षण से आरम्भ होकर भावना के द्विविध भेद आर्थीभावना एवं शाब्दीभावना का सोदाहरण वर्णन किया जाता है तथा इन दोनों भावनाओं अंशत्रय साध्य, साधन एवं

इतिकर्त्तव्यता का विवेचन किया जाता है। मीमांसा दर्शन का अत्यन्त प्रासंगिक एवं विवेचनीय विषय है वेदापौरुषेयत्व। यह सिद्धान्त सभी दर्शनों में मीमांसा दर्शन को शीर्ष स्थान प्राप्त कराता है। विधि वेद के पंचविध अंशों में से प्रथम एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। यह वेदांश अज्ञात अर्थ का बोध कराने हेतु प्रवृत्त होता है – 'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः'। यह वेदांश अन्य अंशों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सभी वेदांशों के मूल में स्थित है इसलिए इसकी प्रधानता और बढ़ जाती है। इस प्रकार अर्थसंग्रह के विवेचित प्रमुख विषयों के रूप में धर्मादि का विवेचन मीमांसा में प्रवेश करने वाले जिज्ञासुओं के लिए प्रधानतया पठनीय है।

24.7 शब्दावली

अग्निष्टोम – सोमसंस्था का याग विशेष।

अपौरुषेय – जो किसी पुरुष विशेष द्वारा रचित न हो।

अर्थज्ञान – अनुमोदित विषय का बोध।

चोदना – प्रेरणा।

जिज्ञासा – विचार करना।

धर्म – जो विधिवाक्य से ज्ञात हो तथा इष्ट का साधन हो।

भावना – मानसिक/शारीरिक व्यापारविशेष।

भावयिता – प्रयोजक/प्रेरक।

याग – वेदानुमोदित कर्मविशेष।

वेद – अपरुषेय वाक्य जो ज्ञानराशिरूप में विद्यमान है।

श्येन – एक विशेष याग।

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थमीमांसा नाम हिन्दी व्याख्या एवं भाष्य, हिन्दी भाष्यकार– डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, संस्करण– वि.सं. 2016।
- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, प्रकाशिका नाम हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, वाराणसी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, 2014।
- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, अर्थालोक नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– पट्टाभिराम शास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. वाचस्पति मिश्र, वाराणसी,चौखम्भा ओरियण्टालिया, 1990।
- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, दीपिका नाम हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– त्यागमूर्ति श्रीटाटाम्बरिस्वामी, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1979।

- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, सार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थबोधिनी नाम हिन्दी टीका, हिन्दी टीकाकार– डॉ. दयाशंकर शास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2003।
- भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, शारदा मन्दिर, 2016।
- भारतीय दर्शन, डॉ. नन्द किशोर देवराज, लखन0, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2002 ।
- भारतीय दर्शन, डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2005 ।
- भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2009 ।
- मीमांसामञ्जरी, र. तङ्गस्वामी शर्मा, नई दिल्ली, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, 1996 ।
- मीमांसा के पारिभाषिक पदों का परिचय, डॉ. किशोरनाथ झा, नई दिल्ली, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 2013 ।

24.8 अभ्यास प्रश्न

1. अर्थसंग्रह के अनुसार धर्म पर प्रकाश डालिए।
2. भावना क्या है? भावना के भेदों का स्वरूप बताइये।
3. वेद क्या है? वेदापौरुषेय से आप क्या समझते हैं?
4. विधि क्या है? किस अवस्था में विधि का विधान होता है?
5. मीमांसा दर्शन को धर्मशास्त्र कहा गया है; स्पष्ट कीजिए।